

खतरे में हैं मुक्त उद्यम

बी.आर. शिर्नॉय

(B.R. SHENOY – ECONOMIC PROPHECIES)

12 मई, 1975

यह लेख उद्योगपति जे.आर.डी. टाटा के एसोसिएटेड चैंबर्स ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री में दिए गए भाषण के समर्थन में लिखा गया है। इसमें निजी उद्योग के अस्तित्व पर गहराते संकट को लेकर चेतावनी दी गई है...

भारत में मुक्त उद्यम और निजी स्वतंत्रता खतरे में है। जे.आर.डी. टाटा ने कहा है, "वक्त आ गया है जब मिश्रित अर्थव्यवस्था के एक हिस्से निजी उद्यमों की समाप्ति के खतरे को लेकर मुखर चेतावनी दी जाए।" भारत में सरकार को हटाने और समाज की स्थापित व्यवस्था को खत्म करने के लिए साम्यवादियों ने हिंसक क्रांति की बजाय शांतिपूर्ण घुसपैठ का रास्ता अख्तियार किया है।

टाटा ने बताया, रणनीति के तहिए "कुछ लोगों ने, जो कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया के सदस्य हैं, सरकार में महत्वपूर्ण स्थानों पर कब्जा कर लिया। फिर हमारे आर्थिक ढांचे में मार्क्सवादी प्रकृति के कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए हैं। लेकिन यह प्रक्रिया इतने धीमे से लागू की गई है कि न तो बुद्धिजीवी और न ही आम जनता ही इस शुरुआती खतरे को भांप सके हैं, जिसमें मिश्रित अर्थव्यवस्था की जगह 'पूरी तरह से योजनाबद्ध और अनुशासनबद्ध अर्थव्यवस्था' को सफाई से लागू किया जा रहा है।"

योजना आयोग के डिप्टी चेयरमैन पी.एन. हक्सर ने इस कड़वी सच्चाई पर बेहद मुखर प्रतिक्रिया दी है। देश के शीर्ष कारोबारी संगठन, फेडरेशन ऑफ द इंडियन चैंबर्स ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री की सालाना बैठक को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा कि मिश्रित अर्थव्यवस्था अभी मुर्दाघर में नहीं है, लेकिन भारी उतार-चढ़ाव झेल रही है। उन्होंने कहा कि राष्ट्रीय उत्पाद का 90 फीसदी निजी क्षेत्र से ही आता है, इसलिए टाटा की चेतावनी में कोई दम नहीं है।

निजी क्षेत्र के भारी उत्पादन को टाटा के आकलन के खिलाफ सबूत के तौर पर इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। उनकी अनिष्ट की आशंका, कारोबारी प्रतिष्ठानों, उनके विस्तार और कार्यप्रणाली पर सरकार

के बढ़ते नियंत्रण पर आधारित है। आशंका का दूसरा कारण सार्वजनिक और निजी क्षेत्र को दिए जाने वाले कर्ज को निजी क्षेत्र की शेयर पूंजी में तबदील करने का विकल्प है। तीसरा कारण है निजी क्षेत्र

1980 में ही इस बात का अनुमान लगा लिया गया था कि तीसरा कारक ही अकेला देश में औद्योगिक और खनन पूंजी में सरकार की भागीदारी को 50 फीसदी से कम कर देगा। अगर कर्ज को शेयर पूंजी में तबदील किया गया तो सरकारी स्वामित्व 80 फीसदी तक बढ़ सकता है।

द्वारा सकल निवेश संसाधन (वर्तमान घरेलू बचत, विदेशी मदद और मुद्रा भंडारण पर समाशोधन का योग) के 65 फीसदी तक का वार्षिक विनियोजन। 1980 में ही इस बात का अनुमान लगा लिया गया था कि तीसरा कारक ही अकेला देश में औद्योगिक और खनन पूंजी में सरकार की भागीदारी को 50 फीसदी से कम कर देगा। अगर कर्ज को शेयर पूंजी में तबदील किया गया तो सरकारी स्वामित्व 80 फीसदी तक बढ़ सकता है।

इस तरह वर्तमान मिश्रित अर्थव्यवस्था के 'मिश्रण' में उत्पादन पर स्वामित्व का साम्यवादी मत समय गुजरने के साथ एक स्वीकार्य सोच हो जाएगा। साम्यवाद की तरह या फिर उसमें छलांग लगाने की तरह, बिना कोई आंसू बहाए। आपने देखा होगा कि 1973 में कितनी आसानी के साथ गेहूं के थोक कारोबार का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया था। भारत में आज जो राजनीतिक हालात हैं, उनमें तो चुनावी बाध्यताओं के चलते तथाकथित एकाधिकार वाले घरानों-निजी क्षेत्र की शीर्ष कारोबारी कंपनियों-के अधिग्रहण पर भी कोई राजनीतिक बवाल खड़ा नहीं

करेगा।

यह संभावना महज कपोल कल्पना नहीं है। यह शीर्ष नीति निर्धारकों और कांग्रेस के प्रभुत्व वाले धड़े की विचारधारा से मेल खाता है। संभव है कि इसे भी जुलाई 1969 के चुनावों में बैंकों के राष्ट्रीयकरण को मिले अप्रत्याशित समर्थन जैसा ही समर्थन हासिल हो। साथ ही अधिकतर पर्यवेक्षकों की राय है कि सत्तारूढ़ दल सत्ता में वापसी के लिए किसी भी हद तक झुक सकता है। भारतीय परिदृश्य की यही स्थिति टाटा के आकलन की आशंका का आधार हैं।

श्रीमान हक्सर जिस राष्ट्रीय उत्पाद में निजी क्षेत्र की जिस अधिक भागीदारी का जिक्र कर रहे थे, वह कुछ और नहीं, उत्पादक उद्यम की 50 फीसदी हिस्सेदारी रखने वाले कृषि और निजी क्षेत्र की घोंघे की रफ्तार वाले उत्पादन का मिलाजुला परिणाम है। निजी क्षेत्र में तेजी से निवेश के बावजूद, दिखाई देने वाला परिणाम कुछ और नहीं भ्रष्टाचार और संसाधनों की बरबादी ही है।

हैरानी की बात है कि सामने दिख रही दुर्दशा को लेकर भी भारतीय कारोबारी जगत चिंतित दिखाई नहीं देता। बुशमैन का कहना है कि टाटा के शब्दों में, 'अन्य सभ्यताओं को नष्ट कर देने वाली विपदाओं'

के बावजूद बचा हुआ है और साम्यवादी खतरे से भी पार पा लेगा। समाजवाद के दो दशकों में कारोबारियों ने कल्पना से भी कहीं ज्यादा संपत्ति और प्रभाव हासिल कर लिया। वे ही समाजवादी तौर-तरीकों के सबसे बड़े समर्थक रहे हैं, हालांकि वे इन्हें मिश्रित अर्थव्यवस्था के उपाय कहना पसंद करते हैं। निजी क्षेत्र की अनदेखी के लिए जिम्मेदार माने जाने वाले तीसरे कारक-निजी क्षेत्र द्वारा सकल निवेश संसाधन के 65 फीसदी तक का वार्षिक विनियोजन-पर बारीकी से नजर डालने की जरूरत है। यह विनियोजन न केवल भारतीय राष्ट्रीय उत्पाद को निजी क्षेत्र द्वारा किए जाने वाले योगदान, महज 4 से 9 फीसदी, की तुलना में बिल्कुल ही गैरआनुपातिक है, बल्कि कुल निवेश में तेजी के संदर्भ में 1964-65 से प्रति व्यक्ति उत्पादन और आय में गतिहीनता के लिए भी मुख्य तौर पर यही जिम्मेदार भी है। इस निवेश में इजाफा (1961-62 के मूल्यों पर) आबादी में इजाफे का 5.3 गुना रहा, ठीक पहली योजना (1951-56) और 1973-74 के दौरान के काल की तरह।

इन दोनों-सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोजन और सामाजिक गतिहीनता-के बीच संबंध को आसानी से बताया जा सकता है। जब एक अरब रुपए (124 मिलियन डॉलर) सार्वजनिक क्षेत्र की परियोजनाओं में 'निवेश' किए गए तो उसमें वास्तविकता में कितनी राशि गई यह परियोजना और उससे जुड़ी पार्टियों के चलते 600 से 800 मिलियन रुपए (74.4 मिलियन से 99.2 मिलियन डॉलर) तक होती है। बाकी का 200 से 400 मिलियन रुपए (24.8 से 49.6 मिलियन डॉलर तक) तो कांटेक्टरों और अन्य द्वारा भ्रष्ट भुगतान-अमेरिकी भाषा में 'किकबैक'-में ही चला जाता है और फलस्वरूप उपभोक्ता की आय में शामिल हो जाता है।

ऐसे भुगतान हालांकि पुराने पीडब्ल्यूडी विभाग की परंपरा का हिस्सा थे, लेकिन आज दी जाने वाली राशि तुच्छ (peanuts) नहीं होती। 1974 में सार्वजनिक क्षेत्र परिव्यय 41250 मिलियन रुपए (5124 मिलियन डॉलर) तक हो गया था, इससे भ्रष्ट भुगतान या रिश्वत, यानी निजी आय में बदल चुका निवेश, 8250 मिलियन रुपए से लेकर 16500 मिलियन रुपए (1025 मिलियन से लेकर 2050 मिलियन डॉलर) तक होगा। यह उस वर्ष के दौरान सकल घरेलू बचत का 17 से 34 फीसदी है। इससे एक बात तो जाहिर हो जाती है कि योजनागत निवेश महज कागजी निवेश होते हैं और राष्ट्रीय उत्पाद में कोई योगदान नहीं देते।

दूसरा, हाल के वर्षों में 35 से 55 फीसदी तक पहुंच चुकी अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता (unused production capacity) भी ताजा उत्पादन में कोई योगदान नहीं देती। दूसरी ओर, अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता के रखरखाव का खर्च राष्ट्रीय उत्पादन को कम कर देगा। इसे भी सार्वजनिक क्षेत्र की अकुशलता और ढिलाई के कारण राष्ट्रीय उत्पाद को होने वाले नुकसान में ही जोड़ दिया जाना चाहिए। ओवरस्टाफिंग, कामचोरी, कच्चे माल अपव्यय, उपकरणों के रखरखाव की उपेक्षा, गुणवत्ता पर नियंत्रण नहीं रखने से होने वाले नुकसान की ही तरह।

तीसरा, राष्ट्रीय उत्पाद का 84 से 92 फीसदी तक का हिस्सा रहने वाले निजी क्षेत्र को निवेश के कुल संसाधनों का केवल 35 फीसदी ही मिलता है। यह वह राशि है जो सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश के बाद

बच जाती है। उत्पादन उद्योग को जैसे ही प्राथमिकता के आधार पर संसाधन दिए जाते हैं, सार्वजनिक क्षेत्र को किया जाने वाला भारी विनियोजन (appropriation) कृषि क्षेत्र को पूंजी के लिहाज से भूखों

*बाकी 200 से 400
मिलियन रुपए (24.8 से
49.6 मिलियन डॉलर
तक) तो कांटेक्टर्स और
अन्य द्वारा भ्रष्ट
भुगतान-अमेरिकी भाषा में
'किकबैक'-में ही चला
जाता है और फलस्वरूप
उपभोक्ता की आय में
शामिल हो जाता है। ऐसे
भुगतान हालांकि पुराने
पीडब्ल्यूडी विभाग की
परंपरा का हिस्सा थे,
लेकिन आज दी जाने वाली
राशि तुच्छ (peanuts)*

मरने की नौबत का कारण बनेगा। इसका प्रमाण ग्रामीण इलाके में कृषि में प्रति व्यक्ति निजी निवेश में गिरावट में देखा जा सकता है, जो आज भी कृषि वित्त (agriculture finance) का मुख्य हिस्सा है। यह बात 1961-74 के काल में ग्रामीण इलाके में प्रति व्यक्ति कृषि उत्पाद में सालाना 0.14 फीसदी (संयुक्त/compounded) की गिरावट में भी देखी गई। हालांकि औद्योगिक उत्पादन में साथ ही साथ सालाना 4.9 फीसदी की दर (संयुक्त) से बढ़ी, क्योंकि कृषि राष्ट्रीय उत्पाद का 47 फीसदी हिस्सा रखती है, जबकि उद्योग महज 14.3 फीसदी। फिर भी प्रति व्यक्ति औद्योगिक उत्पादन में विस्तार में कृषि उत्पाद में गिरावट को साफ तौर पर नजरअंदाज कर दिया गया। 1960-61 के मूल्यों पर 1964-65 की प्रति व्यक्ति 338 रुपए (41.99 डॉलर) आय की तुलना में 1974-75 में प्रति व्यक्ति आय 339 रुपए (42.11 डॉलर) रही। भ्रष्टाचार ने न केवल नागरिकों के नैतिक मूल्यों में गिरावट लाई है, बल्कि यह भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में गिरावट का भी कारण रहा है। बाकी की दुनिया जबकि तेजी से आगे बढ़ रही है, हम वहीं के वहीं खड़े हैं। जापान और एशिया के कुछ छोटे देशों की तरह।

राष्ट्रीय उत्पाद के संपूर्ण विकास का एक काम रोजगार में इजाफा है। इसमें राष्ट्रीय उत्पाद जहां कम गतिशील होता है, वहीं श्रम शक्ति में इजाफे का रोजगार में उचित इस्तेमाल नहीं हो पाया है। परिणाम यह हुआ कि 1951 (3.3 मिलियन) तुलना में 1971 में बेरोजगारी पांच गुना थी।

हमें इस बात को स्वीकार लेना चाहिए कि गांधीवादी मूल्यों की एक काल्पनिक सरकार भी-जिसमें जयप्रकाश नारायण या विनोबा भावे प्रधानमंत्री हों-वर्तमान पागलपन भरी नीतियों (टाटा वर्तमान नीतियों को ऐसा ही बताते हैं) के चलते हालात में कोई परिवर्तन नहीं कर सकेंगे। इन नीतियों के गंभीरता के साथ पुनर्निर्धारण के बगैर इस अराजकता को दूर करके देश को प्रगति के सही रास्ते पर ले जाना नामुमकिन है। जिसके शुरुआती महत्वपूर्ण कदमों में से सार्वजनिक क्षेत्र के सार्वजनिक क्षेत्र परिव्यय में कटौती एक है।